

गांव का प्रश्न और ज्ञान की परिधि

कुछ प्रस्थान बिन्दु

शचीन्द्र आर्य

आज से लगभग दो साल पहले, एक अंग्रेजी समाचार पत्रिका, आउटलुक ने अपनी वर्षगांठ पर 'इक्कीसवीं शताब्दी: संभावित भविष्यों' के नाम से विशेषांक प्रकाशित किया। उनके अनुसार, इस लेख में हम जिस 'गांव' पर अपना ध्यान केन्द्रित करने जा रहे हैं, उसका कोई भविष्य नहीं है या निकट भविष्य में उसका लोप हो जाएगा। इस लुप्तप्रायः, भविष्यहीन जगह को उन्होंने अपने यहां स्थान नहीं दिया है। विशेषांक में वह गांधी, नेहरू, धर्म, धर्मनिरपेक्षता, युद्ध, भविष्य के शहरों, भारतीय साहित्य के संकट, सिनेमा, पढ़ने की आदतों, और डिजिटल दुनिया आदि पर चर्चा कर रहे हैं, मगर उन्हें 'खेतिहर समाज' के बारे में ऐसा कुछ भी महसूस नहीं हुआ, जिस पर कुछ कहा जा सके। ऐसा करते हुए संभवतः वे हमारे समाज की प्रमुख सामाजिक इकाई को खारिज कर रहे हैं। शायद उन्होंने इस स्थान को 'ग्रामीण विकास मंत्रालय' के लिए छोड़ दिया होगा या वह दुर्खाइम के विकास के सिद्धान्त से भली भांति परिचित होंगे, जिसमें समाज निम्न से उच्चतर रूपों में परिवर्तित होते जाते हैं। यह प्रगति (?) क्रमशः सरल और सहज विभेदीकरण से जटिल रूपों में होती रहेगी और सरल समाज (जैसे गांव), जटिल सामाजिक संरचनाओं (जैसे शहर) में बदलते जाएंगे और स्वतः खत्म हो जाएंगे।

यहां, इस बिन्दु से अपनी बात शुरू करना चाहता हूं। मुझे लगता है, यह सही समय है, जहां आने वाले महीनों में अपने शोध के लिए 'फील्ड' में जा रहा हूं। यह (फील्ड) शोध में एक विशिष्ट तकनीकी शब्द है। मैंने इसको एक छद्म या उपनाम दिया है, 'गांव'। शोध में इसे लोक समाज, बाहरी या ग्रामीण इलाक, परंपरा का प्रतीक आदि कहा जाता है।

'फील्ड' शब्द अपने आप 'निष्पक्षता' को ध्वनित करता है। मुझसे बाहर एक ऐसा (बाहरी) क्षेत्र, जहां मैं सिर्फ अपरिचित व्यक्ति लगता हूं। हम अपने शोध के संदर्भ में बहुत भयभीत हैं। हमें शोध क्षेत्र से पर्याप्त दूरी चाहिए। अनुसंधान या शोध इसी रूप में निष्पक्षता को प्राप्त होता है। इससे उसमें तटस्थता या वस्तुनिष्ठता आती है। यहां, खुद को इस बहस में फंसाना नहीं चाहता। मेरा विचार बहुत स्पष्ट है। मैं इस विमर्श को खारिज नहीं कर रहा हूं, लेकिन थोड़ी देर के लिए स्थगित कर यह देखना चाहता हूं कि यह 'निष्पक्षता' आती कहां से है? मेरा विश्वास है, यह एक बहुत ही बुनियादी ज्ञान मीमांसीय प्रश्न है। इस निष्पक्षता का स्रोत, मुझे लगता है, ज्ञान की हमारी परिभाषा या समझ में निहित है। इस लेख के अगले भागों में, हम इन मुद्दों पर चर्चा करेंगे। लेकिन सबसे पहले, हमें देखना है कि 'फील्ड' में शोध कार्य के लिए कौन जा रहा है?

1.

शहर और गांव के बीच 'शोधार्थी'

इस बहुआयामी, जटिल, बहुरेखीय चर्चा को प्रारम्भ करने से पहले बस इतना कहना चाहता हूं कि समाज को किसी तरह की द्वैध या बाइनरी में विभाजित करना समझ के लिए कभी श्रेयस्कर नहीं रहा, लेकिन हम यहां उसकी मदद ले रहे हैं। यह 'शहर' और 'गांव' का ऐतिहासिक विभाजन या एक किस्म की बाइनरी है; जिसका (सचेत) प्रयोग करते हुए हम इस परिदृश्य को बेहतर जानने की दिशा में आगे बढ़ सकते हैं। ध्यान रखिए, इस संदर्भ में लेखक उसे निर्मित नहीं कर रहा, बस उसका हवाला ले रहा है। इसे इस विमर्श की सीमा माना जाए।

स्वतंत्रता प्राप्ति के अगले साल, सन् 1948 ई. में किसी दिन, भारत के प्रथम प्रधानमंत्री, जवाहरलाल नेहरू, 'केंद्रीय शिक्षा संस्थान' की आधारशिला रखते हैं। मेरे मन में, केंद्रीय शिक्षा संस्थान (बाद में शिक्षा विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय) की स्थापना पर यह सवाल उठता है कि सरकार इसकी आधारशिला के लिए कोई भी स्थान चुन सकती थी, लेकिन वह एक बार फिर औपनिवेशिक शहरी विन्यास क्यों चुनती है? क्या यह प्रश्न आपके दिमाग में भी किसी तरह की कोई हलचल पैदा नहीं करता? हो सकता है, यहां ज्योति होसागरहर हमारी मदद कर सकें। फिलहाल, इस दिशा में विषयांतर से बचने के लिए हम यह मान लेते हैं कि शहरों को हमेशा कुछ विशेषाधिकार प्राप्त हैं, इसलिए वह शहर हैं।

व्यक्तिगत रूप से, मेरे लिए, यह 21 वीं सदी के पहले दशक में मेरी शैक्षिक संस्था बन पाई। इस 'बन पाने' को थोड़ा खुलासे की जरूरत है। इसे विस्तार से देखना होगा। यदि मेरे पिता गांव से पलायन नहीं करते, तो मुझे यह मौका नहीं मिलता। मुझे लगता है कि इस तस्वीर को विखंडित करना आपके लिए मुश्किल है, चलिए, आपकी मदद करता हूं।

इस (परि)घटना में कुल तीन बिन्दु हैं। पहला, एक शैक्षिक निकाय है, जो शहर में स्थित है। दूसरा बिन्दु, मेरे पिता हैं, जो एक ग्रामीण अंचल से निकल गए और आखिरी बिन्दु, एक छात्र के रूप में स्वयं हूं, जिसने इस संस्थान में प्रवेश लिया। अगर मैं इस विभाग में पढ़ रहा हूं, तब मैं उन लोगों में से एक हूं, जो यहां पढ़ने में सफल हुए और भारत में इस उच्च शिक्षा प्रणाली का हिस्सा बन पाए। एक दूसरा विचार भी यह हो सकता है, भारत में 'चल संस्थान' (movable institutes) नहीं है। यदि आप अध्ययन करने के इच्छुक हैं, तो आपको संस्था जहां स्थित है, उस भौगोलिक स्थान की ओर पलायन करना पड़ेगा। अन्य कोई विकल्प नहीं है तथा यह विशिष्ट जगहें अधिकांश मामलों में शहरों के अलावा कोई अन्य जगहें नहीं हैं।

तो, फिर से इस बात को दोबारा लिखने जा रहा हूं ताकि यह घटना कुछ अन्य तथ्यों और अर्थों को स्पष्ट कर सके। यदि आप इन दो घटनाओं (पिता के पलायन और मेरे छात्र बनने के अवसर) के बीच वर्षों की संख्या की गणना करते हैं, तो आपको कुछ और जानकारी मिल पाएगी। आजादी (1947) के बाद से, जब तक कि मेरे पिता दिल्ली स्थानांतरित (1981) नहीं हो गए, हम पहली पीढ़ी हैं, जो (2009 से) इस शहरी औपचारिक शिक्षा केंद्र में पढ़ रहे हैं। उसी समय, हम कुछ ऐसे विद्यार्थी हैं, जिन्हें अध्ययन के लिए औपनिवेशिक इतिहास में धंसी हुई परिष्कृत भाषा (अंग्रेजी या हिन्दी) की सहायता की जरूरत पड़ती है। आप में से कुछ इसे हास्यास्पद कह सकते हैं, लेकिन संस्थानिक मामलों में यह सच के बहुत करीब है।

समाजशास्त्र के शास्त्रीय सिद्धांत हमें दिखाते हैं, उत्तर-औद्योगिक विकास (जो 18वीं सदी में पश्चिमी यूरोप में हुआ), वह उत्पादन, मानदंडों, मूल्य, भाषा, कौशल, मानसिकता में परिवर्तन लाता है। इस प्रक्रिया से एक स्थान से दूसरे स्थान पर बहुसंख्यक आबादी का विस्थापन हुआ। पलायन की गति बढ़ी और श्रम विभाजन जन्म आधारित न रहकर कौशल आदि कारणों से जटिल होता गया। इसी उत्तर-औद्योगिक विकास के फलस्वरूप विचार प्रक्रिया में परिवर्तन आया। नई जीवनशैली, आदतों का विकास हुआ। पसंद, नापसंद, स्वाद, पोशाक, जगह सब पर दूरगामी प्राभाव पड़ा। शहर

इसके केंद्रबिन्दु बनकर उभरे। इस सबके बावजूद दुनिया में कुछ भी एक रेखीय नहीं है। न शहर, न शहरों में रहने वाले। कुछ विद्वान और समाजशास्त्री शहरों को आधुनिकता के घटनास्थल मानते हैं, यह बात तथ्यात्मक रूप से सही नहीं है, न हमारे अनुभव इसके लिए साक्ष्य जुटा पाए हैं। खैर। हमारे अनुभवों में यह शहर, दिल्ली था। मुगलों से लेकर एक यूरोपीय देश की औपनिवेशिक गुलामी से आजादी के बाद और नव-उदारवादी समय तक आते-आते यह हमारे हिस्से में आया।

दिल्ली की पहली यादें हमारे बचपन की हैं। 90 के दशक में हम बड़े हो रहे हैं और इस शहर को समझना तो बिलकुल भी शुरू नहीं किया है। हम इस शहर में बड़े तो हुए लेकिन यह कहानी का केवल एक आधा हिस्सा है। मैं दोबारा अपने अंतिम शब्दों को दोहराते हुए यहां कुछ प्रश्नों की पड़ताल करने का प्रयास करूंगा। 'हमारे माता-पिता की तरह, हम सभी के पास घर को लेकर एक जैसी मानसिकता है। हम, अभी तक, उस जगह को भावनात्मक और मानसिक रूप से कभी नहीं छोड़ पाए हैं। हम एक ही समय और स्थान पर दोनों जगहों पर रहते हैं। हमारे पास दो घर हैं। एक अदृश्य है; यह हमारे मन में है, जबकि दूसरा दृश्य है और शारीरिक रूप से दिल्ली में है।' (2016)।

यह अदृश्य घर बहुत जल्द 'दृश्य' होगा। जब ऐसा होगा, तब मैं क्या करूंगा? मुझे, कम से कम अपने मन में, इसका जवाब देना होगा। अगर आप 'व्यक्तिपरक वास्तविकता' को स्वीकार करते हैं, तब हमें इस शोधार्थी लेखक के मन में शहरी मानसिक निर्मिति को मानना होगा। चलिये मेरे उदाहरण से स्पष्ट करने का प्रयास करते हैं। यहां बहुत महत्वपूर्ण प्रश्न है, मैं अब कहां जा रहा हूँ? इसका उत्तर है, गांव। मैं एक ग्रामीण विन्यास या निर्मिति में दाखिल होने को हूँ। क्या अनुसंधान या शोध करने के लिहाज से यह बहुत जटिल या समस्याग्रस्त स्थिति है? एक प्रतिभागी पर्यवेक्षक (पार्टिसिपेंट अब्जर्वर) के रूप में मेरे लिए क्या चुनौतियां हो सकती हैं? किताबें, शोध पत्रिकाएं, मैनुअल और मोनोग्राफ आदि इन गंभीर बहसों और चर्चाओं से खचाखच भरे हुए हैं। मेरी रुचि इन हवालों या विवरणों में जाने की बिलकुल नहीं है।

मेरी रुचि मेरे मन में चलने वाले खयालों में है, जहां, वह गांव का घर हमारे लिए इसलिए भी 'अदृश्य' है क्योंकि हम भौतिक रूप से वहां उपस्थित नहीं हैं। लेकिन जब शोधार्थी के रूप में यहां (इस शहर) से जाऊंगा, तब गांव के लोग, अपने भीतर, मेरी कौन सी छवि बना रहे होंगे? शायद, मैं उनके लिए अपने बाबा (दादा) का एक पोता बनकर रह जाऊंगा, जिन्होंने उस गांव में अपनी पूरी जिंदगी बिता दी। पिता के बचपन के संगी साथी अब भी वहीं होंगे। गांव में जो पिता की हम उम्र लड़कियां रही होंगी, वह हमारी मां की तरह शादी के बाद अपने पतियों के घर चली गई होंगी। कई युवकों का यह ससुराल होगा। कई युवतियों का मायका। बहुत सारे बच्चे इसे अपने दादी-नानी के गांव की तरह देखते होंगे। हर साल छुट्टियों में इस गांव आते, इन स्मृतियों को याद करते हुए हमेशा महसूस करते, काश! उन दिनों में फिर से लौटा जा सकता। उनमें से कई यादों में अब तक हम गांव में हर साल, गर्मियों में एक या डेढ़ महीनों के लिए मेहमान हैं। गांव के लोग हमें हर साल वहां आते हुए देख रहे हैं। हम वह हैं, जो वहां स्थाई रूप से नहीं रहेंगे। कुछ दिन में लौट जाएंगे। ऐसे में मुझे लगने लगता है, न तो मैं उनके लिए एक बाहरी व्यक्ति हूँ और न ही अंदरूनी व्यक्ति। फिर कौन हूँ?

अब, यह मेरा अकादमिक कार्य है, जब मैं उनके दैनिक जीवन में भागीदार बनना चाहता हूँ। मेरे लिए उनके जीवन का एक हिस्सा बनना मुश्किल है क्योंकि इससे पहले, ऐसा प्रयास कभी नहीं किया। यह पहली बार है, जब मुझे खुद को खोलना होगा। अपने अंदर, बहुत लंबे समय से, खुद को इस मुठभेड़ के लिए तैयार कर रहा हूँ। क्या मैं श्यामचरण दुबे की तरह कुछ कर पाऊंगा, या वैसा, जैसा एम. एन. श्रीनिवास ने पचास या साठ के दशक में किया था? मेरा इन विद्वानों से बराबरी करने का कोई इरादा नहीं है। बस अपनी सीमित दृष्टि से गांव को समझने की कोशिश करना चाहता हूँ।

2.

गांव: औपनिवेशिक विरासत से पहले और आजादी के बाद

आजादी के पहले

गांव जाने से पहले, जब हम गांवों के बारे में संबंधित साहित्य पढ़ना शुरू करते हैं, तब हमें महसूस होता है कि भारतीय गांवों की अवधारणा का औपनिवेशिक शासन से बहुत निकट और गहरा संबंध है। इसका अपना विशिष्ट इतिहास है। ब्रिटिश अधिकारियों और प्रशासकों (मेटकाफ, मुनरो, सर हेनरी मेन की रिपोर्ट आदि) की राजस्व और भूमि निपटान संबंधी रिपोर्टें या दस्तावेज गांवों के औपनिवेशिक अर्थ के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। उस समय भारतीय गांवों के संबंध में व्यापक रूप से यह माना जाता था, कि यह सभी (गांव) आत्मनिर्भर छोटे-छोटे गणतंत्र के रूप में कार्य करते हैं और बाहरी संबंधों से लगभग मुक्त हैं। यह (प्रचलित) धारणा इन गांवों को एक दूसरे से कटे हुए समाजों के रूप में प्रस्तुत करती थी, जो स्वयं अपनी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति करने में सक्षम थे।

ब्रिटिश प्रशासकों के विपरीत एम.एन. श्रीनिवास (2001) ने सुझाव दिया कि यह मान्यता केवल मिथक है। उन्होंने रेखांकित किया कि 'ज्यादातर गांवों में नमक जैसी एक बुनियादी वस्तु तक नहीं बनती थी और कई मसाले भी बाहर से आते थे'। ऐसा नहीं था कि वह अपनी सभी जरूरतें खुद पूरी कर लिया करते थे। लेकिन गांव के विषय में इन धारणाओं को स्थापित करने में राजस्व और भूमि विभागों में औपनिवेशिक अधिकारियों द्वारा किए गए अध्ययन और दस्तावेजों ने अपने हिस्से का काम कर दिया था। इस धारणा ने भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के सबसे महत्वपूर्ण नेताओं में से एक, मोहनदास करमचंद गांधी को बहुत प्रभावित किया।

गांधी 'आत्मनिर्भर गांव' के विचार से बहुत प्रभावित थे और उन्होंने ब्रिटिश प्रशासक हेनरी मेन, जो कि तुलनात्मक विधिवेत्ता और इतिहासकार थे, द्वारा लिखी पुस्तक (Village Communities: In the East And West) को 'हिंद स्वराज' (1916/2008) के अंत में पढ़ने के लिए एक विशिष्ट पुस्तक के रूप में उल्लेखित किया। बाद में महात्मा गांधी ने गांव के पुनर्निर्माण के बारे में अपने विचारों को 'ग्राम स्वराज' के रूप में प्रस्तुत किया। 'ग्रामीण पुनर्निर्माण' औपनिवेशिक शासन के खिलाफ उनके राष्ट्रवादी स्वतंत्रता आंदोलन का अक्ष था। उन्होंने शहरों के बनिस्पत गांव को चुना और स्थापित किया। उन्होंने गांव के जीवन को आधुनिक पश्चिमी संस्कृति और सभ्यता की आलोचना के रूप में प्रस्तुत किया और एक विकल्प के रूप में उसे वृहत्तर समाज के सम्मुख प्रस्तुत किया (जोधका: 2002)।

अपनी हत्या की पूर्व संध्या पर, महात्मा गांधी ने अपनी (आखिरी) इच्छा प्रकट की और कांग्रेस के लिए एक संविधान तैयार किया। उनका इरादा भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस पार्टी को भंग करने का था, जिसका मुख्य लक्ष्य राजनीतिक स्वतंत्रता को प्राप्त करना था। वह लोगों की सेवा और अहिंसक समाज की स्थापना के लिए कांग्रेस पार्टी को संघ में परिवर्तित करना चाहते थे। गांधी के लिए अहिंसक समाज का मतलब था, आत्मनिर्भरता और उनके सपने का समाज, उनका स्वप्न था, ग्रामीण ग्राम्य समाज। गांधी का 'ग्राम स्वराज' गांव के पुनर्निर्माण के लिए एक आदर्श है और यह भी सच है कि हम अभी तक, बीसवीं सदी से इक्कीसवीं सदी के दो दशकों बाद भी, गांधी के विचारों को प्राप्त करने में नाकाम रहे हैं। मेरा इरादा 'ग्रामीण आत्मनिर्भरता' के विचार को खारिज करने का बिलकुल नहीं है। लेकिन, जैसे ही हम गांवों के संदर्भ में अम्बेडकर के अनुभवों के बारे में सोचते हैं, वहां हम पाते हैं, अम्बेडकर के गांव और गांधीजी के गांव के बीच एक विरोधाभास है। जिसे नब्बे के दशक में हम दलित उभार या छोटी अस्मिताओं के दावों में दोबारा देख सकते हैं।

जी, बिलकुल सही, हम ऐतिहासिक रूप से गुंथे हुए भारतीय गांव और इसकी जातिगत सामाजिक संरचना का जिक्र कर रहे हैं। पेरियार के विचारों में गांधीवादी स्वप्नलोक की परतें खुलती हुई लगती हैं। यही कारण था कि अंबेडकर और पेरियार दोनों ने गांधी के दृष्टिकोण को खारिज कर दिया। उन्होंने गांधी के 'गांव पुनर्निर्माण' को पारंपरिक ब्राह्मण जाति के भौगोलिक रिक्त स्थान के भीतर, जनता को गिरफ्तार करने के लिए एक राजनीतिक रणनीति का हिस्सा

कहा। जैसा कि गांधीजी की 'औपनिवेशिक आधुनिकता' की आलोचना, पश्चिमी औद्योगिक आधुनिकता के निर्माण और सीमा को समझने में हमारी मदद करती है और वे गांव के पुनर्निर्माण में आशा व्यक्त करते हैं, लेकिन अम्बेडकर और पेरियार दोनों ने उनके दृष्टिकोण की आलोचना की तथा कहा, जाति के विनाश से पहले, ऐसा कोई पुनर्निर्माण संभव नहीं है।

नव उदारवादी अर्थव्यवस्था की ओर

अब, हमारे लिए यह सवाल है कि स्वतंत्रता के बाद गांवों का क्या हुआ? एक तरफ, देश के गांवों के लिए गांधीवादी आदर्शवाद थे, जिनकी एक तरफ आलोचना भी हो रही थी और दूसरी तरफ भारत के लिए नेहरू के दृष्टिकोण के आधुनिकतावादी दृष्टिकोण थे। उनके भविष्य के सपनों में शहर सर्वोपरि थे, जिसे हम चंडीगढ़ को स्थापित करने के उपक्रम में बहुत करीब से जान सकते हैं। उनके लिए नदियों पर बड़े-बड़े बांध, कल कारखाने नए भारत के नए मंदिर थे। तीसरे दृष्टिकोण के रूप में नेहरू के स्वप्न को ध्यान में रखते हुए, इसे बृहत्तर परिप्रेक्ष्य में कुछ ऐतिहासिक घटनाओं के साथ देखना होगा, तब हम गांवों पर अपने ज्ञान के दूसरे क्षेत्र में गहराई से आगे बढ़ने का प्रयास कर सकते हैं।

1950 के दशक तक, गैर-पश्चिमी देशों को परिभाषा के द्वारा 'गैर-आधुनिक' माना जाता था। हालांकि, दुनिया में तेजी से परिवर्तन आया और वह बदल गई। द्वितीय विश्व युद्ध (1945) के अंत के साथ 'वि-उपनिवेशिकरण' (Decolonization) की प्रक्रिया प्रारम्भ हो गई। इसके तहत कई एशियाई और अफ्रीकी देशों ने स्वतंत्रता प्राप्त की और उन्हें 'तीसरी दुनिया के देश' कहा जाने लगा क्योंकि सोवियत रूस (USSR) और संयुक्त राष्ट्र अमेरिका (USA) के बीच दुनिया शीत युद्ध के दौर में प्रवेश करती है और वह दुनिया को इस या उस ध्रुव में आने के लिए दबाव बनाने लगते हैं। विचारक इसे साम्यवादी विकास और पूंजीवादी विकास के बीच संघर्ष के रूप में देखते हैं, जो सतह पर प्रकट नहीं होता था।

हमारे लिए यहां यह समझना जरूरी है कि तीसरी दुनिया के इन देशों में क्या हो रहा था, जिनमें एक देश के रूप में हमने भी अभी हाल में स्वतंत्रता हासिल की थी? जैसा कि देशपांडे (2004) रेखांकित करते हैं कि 'नए स्वतंत्र हुए देश संभावित ग्राहक थे, जहां विश्व शक्तियां अपने प्रभाव के क्षेत्रों को स्थापित करने के लिए प्रतिस्पर्धा करती हैं। पश्चिमी सामाजिक विज्ञानों ने पहले आधुनिकीकरण के अध्ययन (Modernization Studies) के माध्यम से गैर-पश्चिमी दुनिया को संबोधित किया। आधुनिकीकरण का यह अध्ययन, अमेरिका द्वारा शीत युद्ध जीतने के समग्र उद्देश्य से प्रायोजित बहुअनुशासनीय शैक्षणिक परियोजना का हिस्सा थे'।

अधिकांश अध्ययनों ने आधुनिकीकरण सिद्धांतों के एक भाग के रूप में ग्रामीण समाज को हमेशा 'अविकसित' कहने का सुझाव दिया और शहरी को एक 'मॉडल' के रूप में संदर्भित किया, जिसका अनुकरण ग्रामीण क्षेत्र (या ग्रामीणों) को करना था। इन अध्ययनों में, उन्होंने परिवर्तन की प्रक्रिया का वर्णन किया और उन्हें समझाया, यह परिवर्तन आर्थिक विकास और सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक संरचना में आमूलचूल बदलाव के माध्यम से होगा। हमारे देश में मानव विज्ञानियों ने भारतीय ग्रामीण समाज की संरचनात्मक और संस्थागत जटिलता का अध्ययन करने में खुद को व्यस्त कर लिया। उनका उद्देश्य, इन्हें समस्या के रूप में चिन्हित कर विकास की योजनाओं से हमेशा के लिए हटा देना था। सुनील बाबू (2013) का तर्क है कि 'यह शोध इस विचार के इर्दगिर्द हो रहे थे कि गांव के इन अध्ययनों से पता चल सके कि वहां वास्तव में क्या हो रहा था और इन सीमित क्षेत्र पर किए गए शोधों को पूरे भारतीय ग्रामीण समाज पर लगाकर उनकी स्थिति का आकलन किया जा सके'। उदाहरण के लिए वह 'इटावा प्रोजेक्ट' का जिक्र करते हैं, कैसे इस अध्ययन को पूरे उत्तर प्रदेश पर समान रूप से लगाया जाता है। यह सामान्यीकरण था। कई जटिलताओं को बिना समझे इतने विविध समाज के लिए योजनाएं बनाकर, उसके लिए परिवर्तन के रास्ते बनाने में खुद को व्यस्त कर लिया।

संक्षेप में, विभिन्न क्षेत्रों में किए गए ग्राम अध्ययन से भारतीय गांवों की एक तस्वीर सामने आई, जो 'ग्रामीण विकास कार्यक्रम' को लागू करने के अमेरिकी एजेंडे के लिए आवश्यक थी।

हम सब इस ऐतिहासिक तथ्य से परिचित हैं कि शीत युद्ध, सोवियत संघ (1991) के विघटन पर समाप्त हुआ। लेकिन, इसके खत्म होने से पहले, हम अमेरिका द्वारा प्रायोजित कृषि आधुनिकीकरण के दौर में प्रवेश कर चुके थे। हमने कृषि विश्वविद्यालयों, अनुसंधान केंद्रों की स्थापना की और हमने महान (?) हरित क्रांति देखी। हमने एक ऐसे शिक्षा आयोग की रिपोर्ट (1964) भी देखी, जो शिक्षा और राष्ट्रीय विकास को जोड़ती है। शीत युद्ध के पश्चात एक देश के रूप में, हम सन् 1991 में एक खुली अर्थव्यवस्था बन गए। इस नवगठित वैश्विक संवाद से गांवों की ओर कई असमानताएं अस्तित्व में आईं। आज वे गंभीर दबाव में हैं। कृषि क्षेत्र किसानों के लिए लाभदायक कार्य नहीं रहा। बैंक ऋण ने उन्हें आत्महत्या के अटूट जाल में डाल दिया है। वह साधनहीन हो गए हैं। ग्रामीण क्षेत्र से शहरी क्षेत्रों में प्रवास अपने समय के उच्चतम स्तर पर है। नीति निर्माताओं ने फिर से एक शब्द 'रबन' (Rurban) को गढ़ा और सरकार ने ग्रामीण इलाकों के लिए एक 'रबन मिशन' की घोषणा की। समाजशास्त्रियों ने इसे अर्थशास्त्र के नियमों और सरकार ने बुनियादी ढांचे के बारे में 'रबन' को समझाना शुरू कर दिया है। यह गांव में शहर के मानदंडों और आदर्शों का आधिकारिक अनुसरण है।

उपरोक्त विवेचन को इतिहास का सर्वेक्षण नहीं कहने जा रहा। बस कुछ सुविधाजनक प्रसंगों वाली इस प्रस्तावना से हमें यह बोध होता है कि ग्रामीण जीवन या ग्राम्य समाज कभी भी एक रेखीय व्याख्या से समझ नहीं आ सकते। शिक्षा के क्षेत्र में शोधरत इस लेखक या अन्य किसी सामान्य व्यक्ति के लिए यह पृष्ठभूमि गांव को अधिक बारीकी से देखने और समझने के लिए प्रेरित और सचेत करती है। इससे गुजरते हुए शोधार्थी शोध के संबंध में एक बार फिर खुद को स्थित करता हुआ शोध समस्या को देख सकेगा। उसे यह एहसास होगा, जटिलताओं को कभी भी सामान्यीकरण या सरलीकरण द्वारा नहीं समझा जा सकता। उन शोधों से भी नहीं जो सीमित क्षेत्र में किए गए शोधों को उससे कई गुना बड़े क्षेत्र पर थोपने की कामना से किए जाते हैं। हम यह भी देख रहे होंगे, एक गांव को समझने के लिए उसमें इतिहास, समाजशास्त्र और शिक्षा कैसे आपस में गुंथे हुए हैं, जो इस विषय की जटिलता को थोड़ा और बढ़ा देते हैं।

3.

औपचारिक शिक्षा और गांव

आप में से कुछ सोच रहे होंगे कि मैंने औपनिवेशिक इतिहास से क्यों शुरू किया? मेरी तरफ से बहुत ही छोटा जवाब है, जो हमें एमएड की कक्षाओं के दौरान 'शिक्षा का समाजशास्त्र' पढ़ते हुए समझ आया था। जिसका एक सिरा उस तथ्य की तरफ इशारा करता है, जहां हम देखते हैं, भारत में औपचारिक शिक्षा, औपनिवेशिक ब्रिटिश राज और वर्चस्व के दौरान प्रारम्भ हुई। इसके साथ ही यह परिचय हमें बताता है कि इतिहास में पहली बार गांव इस रूप में प्रस्तुत होते हैं, जहां भारतीय गांव पहली बार ब्रिटिश राजस्व अधिकारियों की नजर में आए और औपनिवेशिक प्रशासकों द्वारा ग्रामीण क्षेत्रों के संबंध में जानकारी एकत्र करने का संस्थागत प्रयास प्रारम्भ हुआ।

औपनिवेशिक शिक्षा की वह इकहरी श्रेणी, जिसके विपरीत नारीवादी चिंतकों ने इतिहास का पुनर्लेखन कर हमें यह बताया कि इस स्थूल श्रेणी, जिसमें हम सब भारतीयों को एक समुच्च के रूप में देखने के आदी थे, वहां स्त्रियों की शिक्षा भी गंभीर पड़ताल का विषय है। यहां इस चर्चा में यह 'ग्रामीण' (समाज) को भी एक पृथक और विशिष्ट श्रेणी के रूप में उभरता हुआ देख सकते हैं। हमें यह सावधानी बरतनी होगी, जहां हम 'ग्रामीण' को शहरों के विपरीत पारिभाषित न करें।

हम समाज वैज्ञानिकों की तरह शहरी और ग्रामीण को स्पष्ट सीमाओं में बंधी हुई इकाई नहीं मानते हैं। ग्रामीण (Rural) से हमारा तात्पर्य, दो कारकों से निर्धारित है। पहला, आवास एवं भूमि का उपयोग और दूसरा, वहां के निवासी जीवनयापन के लिए किन आर्थिक क्रियाओं में संलग्न हैं। इस तरह हम पाते हैं, ग्रामीण क्षेत्र सामान्यतः खुले इलाके होते हैं, जहां जनसंख्या घनत्व अपेक्षाकृत कम होता है और बहुसंख्यक निवासी भूमि से जुड़े व्यवसायों या प्राथमिक उत्पादन क्रियाओं में व्यस्त रहते हैं। हम इस 'ग्रामीण' (क्षेत्र या समाज) को शिक्षा के विमर्श में स्थित करके यह देखना

चाहते हैं, क्या इस तरह की उप-श्रेणी से हमारी समझ का कुछ विस्तार होता है या नहीं। ज्ञान निर्माण में उनकी क्या भूमिका रही है, इसे समझने के लिए हम एक शिक्षाशास्त्री और एक राजनीतिक चिंतक की मदद लेंगे। तब शायद हम इस बात की गंभीरता को जान पाएंगे कि जिन्हें हम स्थूल श्रेणी की तरह व्यवहार में लाते रहे हैं, वह किस तरह तरल तो हैं ही बल्कि उनकी संरचना में इतनी बारीक चीजें गुथी हुई हैं, जिन पर हमें बहुत गंभीरता से ध्यान देने की तत्काल आवश्यकता है।

मेरा मानना है कि इस बिन्दु पर प्रो. कृष्ण कुमार की बात (2014) को रेखांकित किया जाना हमारी समझ को शिक्षा के संदर्भ में विस्तार देगा, जिससे हम यह देखने में सक्षम होंगे कि औपनिवेशिक आधुनिक शिक्षा और गांव के बीच किस प्रकार के संबंध हैं। वह अपने एक लेख में कहते हैं, शिक्षा के औपनिवेशिक इतिहास में 'शहर और गांव एक-दूसरे से सम्बद्ध ज्ञानमीमांसीय संस्थाएं हैं। शहर वह जगह है, जहां गांव के बारे में ज्ञान बनाया और संग्रहीत किया जाता है। इस तरह, जानबूझकर और आकस्मिक रूप से, गांव के विषय में संगठित ज्ञान, शहर में विकसित हुआ है। औपनिवेशिक स्थितियों के तहत, आधुनिक शिक्षा के आगमन के साथ, ग्रामीण-शहरी संबंधों में एक शैक्षणिक भूमिका सामने आई।'।

कृष्ण कुमार का इशारा, उन्हीं दस्तावेजों की तरफ है, जिनमें राजस्व और भूमि के संबंध में शहरों से प्रशासक और अधिकारी गांव में जाते और लक्षित जानकारियों को एकत्र कर पुनः शहर लौट आते थे। इस गतिविधि में शहर स्वाभाविक रूप से गांव के विषय में 'ज्ञान का स्रोत' बनते हैं। इस तरह औपनिवेशिक शिक्षा के इतिहास में शहर अध्यापक की भूमिका में और गांव विद्यार्थी की भूमिका में उभरते हैं। दूसरे शब्दों में, जब हम इस औपनिवेशिक सभ्यता परियोजना में आगे देखते हैं, तो शहरों और गांवों के बीच के संबंधों में ऐसी अन्तरक्रिया हो रही है, जहां 'गांव का ज्ञान' शहरों में एकत्रित और संग्रहित होता है। 'शहर' 'शिक्षक' की भूमिका निभाते हैं और 'गांवों' में 'शिक्षार्थी' होते हैं। क्या आपको यह भूमिकाएं काफी हद तक पाओलो फ्रेरे की बैंकीय अवधारणा का स्मरण नहीं दिलाती हैं, जहां अध्यापक 'ज्ञान का पुंज' है और विद्यार्थी उस 'ज्ञान का जमाकर्ता'? एक ऐसा संबंध, जहां दोनों की भूमिकाएं पूर्वनिर्धारित हैं, उनमें कोई विचलन संभव नहीं है। जिसमें बने असमान संबंध, शोषण का आधार बनते हैं।

स्वतंत्रता के बाद भी यह उपक्रम समाप्त नहीं हुआ। शीत युद्ध की पृष्ठभूमि में फोर्ड और रॉकफेलर जैसी संस्थाओं द्वारा वित्तपोषित शोधों में ब्रिटिश और अमेरिकी मानवविज्ञानी के अलावा, भारतीय विद्वान एक समान दृष्टिकोण का अभ्यास कर रहे थे। वे ग्रामीण क्षेत्र में हो रहे 'पारंपरिक विन्यासों' में बदलावों की पड़ताल कर रहे थे। उनका उद्देश्य आधुनिकीकरण की प्रक्रिया के तहत कुछ नीति निर्माताओं के लिए ग्रामीण स्तर पर संरचनात्मक और कार्यात्मक ज्ञान एकत्र करना था।

इस सारी कवायद का उद्देश्य अविकसित समाजों, जो भारतीय संदर्भों में 'गांव' माने गए, को चिन्हित कर वहां मौजूद समस्याओं को विकास द्वारा (समाप्त कर) मुख्यधारा में लाना था। यही वह धुरी है, जिसकी सहायता से हम ग्रामीण विकास नीतियों के मूल आधार को तैरता हुआ देखते हैं, जहां यह भविष्यगामी योजनाएं, गांव को शहरों की दृष्टि से समझने की अभ्यस्त हैं। हमें यह स्पष्ट दिखता है, जहां से वह सुझाव देते हैं, उनकी यह समझ बुनियादी रूप से झूठ पर आधारित है। उनके लिए गांवों का भविष्य, सपने में देखे गए शहरों की एक दर्पण छवि है। यह पूरी प्रक्रिया में एक गलत मोड़ है। यह इस अर्थ में गलत है कि हमें अभी तक पता नहीं है कि हमारे देश में 'ग्रामीण' (रूरल) क्या है?

वर्तमान परिदृश्य में आपको यह एक बेतुका स्पष्टीकरण लग सकता है, लेकिन जरा ठहरिए। अगर हम इस चर्चा को ज्ञानमीमांसीय अर्थों में परिवर्तित करते हैं, तब हम इन सभी पारस्परिक क्रियाओं को समझा सकते हैं। शिक्षा और विकास का यह अंतर्संबंध थोड़ा और स्पष्ट हो जाएगा। याद कीजिए, जहां कृष्ण कुमार 'शहरों' और 'गांव' के बीच संबंधों, को 'शिक्षक' और 'छात्र' के पदानुक्रमिक रिश्ते में परिवर्तित होते हुए हमारे सम्मुख रखते हैं। वहां 'शहर' 'ज्ञान' के संरक्षक हैं, उनके पास 'वैध ज्ञान' है। मैं इसमें एक और परत जोड़ रहा हूँ। यहां, आदित्य निगम यह समझने में

मदद करते हैं, कि पूरे विमर्श के साथ क्या हो रहा है। क्यों यह 'वैध' ज्ञान शहर में स्थित हो सका और यह संभव कैसे हुआ होगा, यह जो विकास की धारा है, वह शहरों की गलियों से होती हुई गांवों की मेढ़ों को अपनी जद में ले लेती है?

आदित्य निगम अपने लेख (2000) में, औपनिवेशिक आधुनिकता की जड़ों को टटोलते हुए ज्ञानमीमांसा से संबंधित प्रश्नों को उठाते हुए कहते हैं, जिस तरह से भारतीय परिवेश में (औपनिवेशिक) ज्ञान उत्पन्न होता है, उसमें सब दोषमुक्त नहीं है। ज्ञान को यहां औपनिवेशिक इस अर्थ में कहा जा रहा है, क्योंकि उसमें औपचारिक रूप से विषयों के चयन और विषयवस्तु के निर्धारण में 'देशज' ज्ञान को शामिल नहीं किया गया। देशज ज्ञान को उस शिक्षा के व्यवस्थित ढांचे में सम्मिलित न करने का सबसे बड़ा तर्क, अपने (औपनिवेशिक) ज्ञान को 'वस्तुनिष्ठ' इकाई या संरचना की तरह देखना था। उन्होंने किसी भी तरह के 'व्यक्तिपरक ज्ञान' पर विचार नहीं किया, क्योंकि उनका मानना था कि इसमें 'निष्पक्षता' और 'वैज्ञानिक पद्धति' का अभाव है। वहीं वस्तुनिष्ठ ज्ञान की जांच सरल और एकरेखीय ही नहीं है बल्कि इसका सामान्यीकरण भी उतनी आसानी से किया जा सकता है। यह सिर्फ और सिर्फ जांच के औजारों की उपलब्धता को ही प्रकट नहीं कर रहा बल्कि उस जांच की एक प्रक्रिया को वैध कह रहा है। इस पूरी प्रक्रिया ने एक तरह से वर्चस्व को स्थापित किया। औपनिवेशिक शासक ज्ञान के नियामक थे और हमारे पास उनके द्वारा तय किए गए मानकों पर खरा उतरने वाले ज्ञान का अभाव था। इस अर्थ में दो तरह की श्रेणियां बनीं। हम दूसरी तरह की श्रेणी में थे, जहां हमारी परंपरा, संस्कृति, लोक सब शून्य में परिवर्तित हो गए। उनके साहचर्य और अन्तर्क्रिया से उत्पन्न ज्ञान अकादमिक दायरे में समा नहीं सके। उनकी ज्ञान की परिभाषा में 'अनुभवात्मक' और 'अनुभवजन्य ज्ञान' के लिए कोई जगह नहीं थी।

चाहे अनचाहे औपनिवेशिक ज्ञान की इस परिभाषा में स्वतंत्रता के इतने वर्षों के बाद भी एक नैरंतर्य दिखाई देता है। यह आज भी हमारे शैक्षिक विमर्श को नियंत्रित करता है और दिशा प्रदान करता है। आदित्य निगम कहते हैं, इसका एक अर्थ यह है कि जो लोग 'शिक्षित' नहीं हैं, मतलब गरीब, आदिवासी, दलित, महिलाएं और वे बच्चे, जो औपचारिक शिक्षा संस्थान में कभी प्रवेश नहीं कर पाये, उन्हें किसी भी प्रकार का कोई ज्ञान नहीं है।

इस ज्ञान मीमांसीय पदानुक्रम के उदाहरण आम जीवन में उतने ही सहज हैं। अपने दैनिक जीवन में जब हम किसी को हेय या उपहास जनक दृष्टि से 'गांवर' कहते हैं, तब हम सचेत होकर एक विभेद को रच रहे होते हैं, जो उन्हें हमसे अलग करता है। जहां वह उस अर्थ में 'शिक्षित' नहीं है, वह 'निरक्षर' है। उन्होंने आपकी या आप जैसे किसी अन्य की तरह संस्थागत रूप से ज्ञान को प्राप्त नहीं किया होगा। आप इस प्रक्रिया में सामाजिक स्तरीकरण ही नहीं कर रहे बल्कि यह मूलतः उसी औपनिवेशिक विभाजन के अवशेष हैं, जो इस औपचारिक शिक्षा पद्धति से हमारे भीतर दाखिल हुए हैं। ऐसा करते हुए हम उसी अंतर को अपने दैनिक जीवन में कितनी ही बार दोहरा रहे होते हैं।

दूसरे शब्दों में, वह ज्ञान मीमांसीय श्रेणियां आज भी 'वस्तुनिष्ठ ज्ञान' के विपरीत 'व्यक्तिनिष्ठ ज्ञान' को कमतर आंकती हैं। उनका कोई मूल्य हमें दिखता ही नहीं है। मेरी तरफ से आप इसमें 'गांवों' को जोड़ सकते हैं। शायद तब आप समझ पाएं, गांव इस 'ज्ञान निर्माण' की प्रक्रिया में क्यों शामिल नहीं हो पाए और इस ज्ञान बनाने की प्रक्रिया में 'गांव' के साथ क्या हो रहा है? उन्होंने अपने 'व्यक्तिनिष्ठ ज्ञान' को 'औपचारिक' या 'संस्थागत' होकर ग्रहण नहीं किया है। क्या हम उनके ज्ञान को सिर्फ पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तांतरित होने वाले जातिगत स्तरीकरण को पुनरुत्पादित करने वाला इकहरा ज्ञान मान रहे हैं। वह जिन प्राथमिक क्रियाओं में संलिप्त हैं, वह अपने परिवेश से जिस तरह अन्तर्क्रिया करते हैं, इसे कभी किसी पाठ्यक्रम का हिस्सा क्यों नहीं बनाया गया। महात्मा गांधी से पहले ज्योतिबा फुले ने औपनिवेशिक प्रशासकों से ऐसा आग्रह किया था। जिसे नहीं माना गया। हमें प्रश्न पूछना चाहिए, महात्मा गांधी की 'नई तालीम' का स्वतंत्रता के बाद भारत में क्या हुआ? वह तो दिमाग के साथ-साथ उत्पादक कार्यों की शिक्षा को महत्व देते थे?

लेकिन, यहां एक बात की ओर ध्यान दिलाना चाहता हूं कि इस चर्चा से यह कतई अंदाजा न लगाएं, कि यह लेखक भी उसी सोच का पोषक है, जहां गांव परंपरा और संस्कृति के संरक्षक हैं। नहीं। यह उस अलगाव की तरफ इशारा भर है, जहां हमने संदर्भ विहीन शिक्षा और ज्ञान की तरफ औपनिवेशिक काल में चलना शुरू किया था, जिसके फलस्वरूप यह खाई आज एक अजीब किस्म के संबंधों का निर्माण कर रही है, जिसमें हम सिर्फ विपर्ययों में समझने के अभ्यस्त हो गए हैं। मुझे उम्मीद है, इस सावधानी के बाद, अब आप बेहतर ढंग से शहर और गांव के द्वैध (Binary) को समझ पाएंगे।

हो सकता है, शायद आप भी एक दिन सवाल करें, 'ग्रामीण विकास मंत्रालय' 'ग्रामीण भारत' के लिए 'शहर केंद्रित' विकास की एक अवधारणा का नियामक क्यों है? क्या उसके पास ग्रामीण अर्थों में विकास की कोई परिभाषा या समझ नहीं है? इसकी भी बहुत संभावना है, इस बहस के यहां तक आ जाने के बाद, लेख के प्रारम्भ में उल्लिखित शोध की 'निष्पक्षता' जैसे मूल्य पर स्पष्टीकरण या संदर्भ देने की जरूरत नहीं है। निष्पक्षता सिर्फ 'दूरी' नहीं है, मेरे लिए यह शोध में एक अनकहा (नैतिक) दबाव है, जो शोधार्थी को अपने शोध की जांच के उन्हीं औजारों पर आश्रित करता है, जो सार्वभौम सत्य की वैज्ञानिक जांच करने में सक्षम हैं। क्या जिनकी जांच इनसे नहीं हो पाएंगी, वह शोध नहीं होंगे?

4.

अतीत को दोहराते हुए या नए सवाल?

जैसा चर्चा के प्रारम्भ में कहा, इस वर्ष के आगामी महीनों में, यह शोधार्थी शोध के लिए 'शहर' से 'गांव' तक सैकड़ों किलोमीटर की यात्रा करने जा रहा है। क्या इसे उन्हीं शास्त्रीय अर्थों में अतीत को दोहराना कहेंगे, जहां शहर अभी भी गांव के संबंध में ज्ञान के निर्माता की भूमिका में बना हुआ है? सतह पर भले यह सीधा सरल सवाल लगता हो, पर इसका उत्तर इतना आसान नहीं है। हो सकता है, शायद प्रश्नों की प्रकृति और शोध के उद्देश्यों के बदलने से इस बार कुछ बदल जाए?

मेरा शोध क्षेत्र, उत्तर प्रदेश की राजधानी, लखनऊ से लगभग 150 किलोमीटर दूर स्थित है। राज्य की राजधानी में कई विश्वविद्यालय हैं। उनकी संख्या लगभग चौदह हैं, जिनमें लखनऊ विश्वविद्यालय और बाबा साहब भीमराव अम्बेडकर विश्वविद्यालय भी शामिल हैं। डॉ. राम मनोहर लोहिया अवध विश्वविद्यालय (फैजाबाद), उक्त जिले से लगभग समान दूरी (150 किमी) पर स्थित है। इन उच्च शिक्षण संस्थानों के नाम जानकर क्या होगा? यहां विचारणीय बिंदु क्या हैं? हम किसी राज्य के राजनीतिक मानचित्र पर उसके जिले और इन विश्वविद्यालयों का पता लगा सकते हैं। लेकिन क्या हम इस मानचित्र पर लिंग, धर्म, जाति, वर्ग और भाषा की गत्यात्मकता का पता लगा सकते हैं? भौगोलिक दूरी एक अर्थ में सामाजिक गतिशीलता को लिंग (या जेंडर) के साथ जोड़ने पर कुछ स्पष्ट कर सकती है। क्या ऐसी अन्य बारीक अंतर्क्रियाएं जनगणना की सांख्यिकीय तालिकाओं में दिख पाएंगी? क्या ऐसा संभव है, व्यक्तिपरक शैक्षिक अनुभवों और चुनौतियों को संख्याओं और तालिकाओं में बदल दिया गया हो? यह अनुभव वहां अदृश्य क्यों हैं?

मैं केवल शिक्षा के छात्र के रूप में पूछ रहा हूं। यह प्रश्न बिलकुल वैसे हैं, जहां से हमने चर्चा शुरू की थी। इस बार, सवाल न केवल 'ज्ञान' की हमारी समझ को उकसाने के लिए है, बल्कि यह फिर से जांच करते हुए पूछना है कि 'ज्ञान' और 'आधुनिकता' के निर्माण की प्रक्रिया को संदेह में लाये बिना, क्या हम मूलभूत प्रश्नों से टकरा सकते हैं? हमें सिद्धांतों से पूछना चाहिए। गांव के आत्म प्रत्यय (या सेल्फ) के साथ ऐसा क्या होता है, जो वह अपनी बात कह नहीं पाए? हमें यह भी पूछना चाहिए, इस ज्ञान निर्माण की प्रक्रिया में 'शक्ति संरचना' (पावर स्ट्रक्चर) की भूमिका क्या है, जो इस पूरी परिघटना के पीछे कहीं छिपी हुई है। एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह भी है कि क्या वह (ग्रामीण) खुद को 'अविकसित' कहते हैं? अगर ज्ञान निर्माण की प्रक्रिया में वह सचेत भागीदार होते, तब क्या विकास शहरों की तरफ से होता हुआ उनके परिवेश को रच रहा होता?

इस असहज अंत से पहले, हमें बड़े परिदृश्य को समझने के लिए एक और महत्वपूर्ण प्रश्न पूछना चाहिए। हमें आज भी ऐसा संभव क्यों नहीं लगता कि कोई गांव से चलकर, हमारे शहरों में 'ज्ञान निर्माण' की इस प्रक्रिया पर सवाल उठाने आ पाएगा? इन सबके उत्तर ज्ञान निर्माण की प्रक्रिया को उलटने से ही मिलेंगे। कुछ शायद मिलना शुरू भी हो चुके होंगे। ♦

लेखक परिचय : फिलहाल दिल्ली विश्वविद्यालय के केन्द्रीय शिक्षा संस्थान (CIE) से 'ग्रामीण परिप्रेक्ष्य में आधुनिकता और शिक्षा की अंतर्क्रिया' विषय पर शोध कार्य कर रहे हैं।

संपर्क : shachinderarya@gmail.com

संदर्भ:

Arya, Shachinder (2016): "In Pursuit of Modernity" EPW, Vol. 51 No.15, pp19-20

Deshpande, Satish (2004): Contemporary India, Penguin India.

Gandhi, Mahatma (2008): Hind Swaraj, Navjeevan Prakashan Mandir, Ahamdabad, pp-89

Jodhka, surrender (2002): "Nation and Village: Images of Rural India in Gandhi, Nehru and Ambedkar" EPW, Vol. 37 No.32, pp 3345

Kumar, Krishna (2014): "Rurality, Modernity, and Education" EPW, Vol.49 No. 22, pp 38-43

Nigam, Aditya (2000): *Secularism, Modernity, Nation: Epistemology of the Dalit Critique* EPW, Vol.35 No. 48 25 pp 4256-4268

Outlook (2016): 'Twenty first century possible futures'. Vol. 56 No. 44

Srinivas, MN (2001): Village, Caste, Gender and Methods: Essays in Indian social Anthropology (New Delhi, Oxford University Press), pp-18

Sunil Babu, CT (2013): "Sociology, Village Studies and Ford Foundation" EPW, Vol. 48 No. 52, pp13-18

— ... —

मुख्य आवरण के चित्रकार...



रविकांत शौकिया व स्वप्रशिक्षित चित्रकार हैं। वे अपने चित्रकार होने को लेकर सदा पसोपेश में रहते हैं। पिछले कुछ सालों से निरंतर चित्र बना रहे हैं। कुछ चित्र पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए हैं। हाल में जो चित्र बनाए हैं उनमें उनके बनाए चेहरे, पक्षी खास हैं। इन चेहरों के भीतर कई-कई रेखाएं होती हैं जो उन्हें चेहरे से बढ़कर व्यापकता प्रदान करती हैं। इन रेखाओं में हमारे समय की जटिलताओं को अनुभव कर सकते हैं। यह जटिलताएं संबंधों की, रोजमर्रा की आपाधापी और कुंद होती संवेदना की हो सकती हैं। या जीवन को परिभाषित करने व उसे अपनी शर्तों पर जीने की मुश्किलों की हो सकती हैं। हम अनुभव कर सकते हैं कि कोई चेहरा जितना सामान्य दिखने की कोशिश कर रहा

है दरअसल हम जिन परिस्थितियों में हैं, उनमें उतना सामान्य हो नहीं सकता। यही वह बात है जो रविकांत के चेहरों को व्यापक अभिव्यक्ति प्रदान करती है। वे फ्रीलांसर हैं और लगभग 23 सालों से आरंभिक शिक्षा के क्षेत्र में काम कर रहे हैं। वे ऐसे शिक्षक हैं जो बच्चों व शिक्षकों दोनों के साथ काम करते हैं। बच्चों और शिक्षकों के लिए समान रूप से सामग्री विकसित करते हैं, दूसरी भाषाओं से अपनी भाषा में शिक्षा के लेखों का अनुवाद करते हैं। किताबों से वास्ता रखते हैं। आस-पास के अनेक बच्चे रोजना उनके घर आते हैं और अपने बाबू जी (जैसा कि बच्चे उन्हें कहते हैं) से फरमाइश कर रंग, कागज, किताबें लेते हैं, चित्र बनाते हैं, पढ़ते हैं। उन्होंने जयपुर जैसे महानगर बन चुके शहर में अपने घर को लोगों के लिए इतना खुला बना रखा है कि कोई कभी भी आकर उनके पुस्तकालय से किताबें ले अध्ययन कर सकता है और चाहे तो कुछ दिन उनके यहां रह सकता है। ♦